

# स्कूल के सवाल जिंदगी के सवालों से फर्क क्यों?

‡ प्रोफेसर यशपाल

यह लेख प्रोफेसर यशपाल के हाल ही में भोपाल में दिए गए एक व्याख्यान का संपादित अंश है। यह व्याख्यान उन्होंने भोपाल में 'भारत हैवी इलेक्ट्रिकल्स' के सभागार में दिया था। इस में उन्होंने स्कूल में विज्ञान पढ़ाए जाने के तरीकों की चर्चा की — किस तरह रोजाना की जिंदगी से उठने वाले सवालों को स्कूल की पढ़ाई से अलग कर दिया गया है। उन्होंने भारत में शिक्षा व्यवस्था की बुनियादी समस्याओं पर भी अपने विचार रखे।

**जिस** विषय पर मैं बोलने वाला हूँ वो है 'हमारी शिक्षा, हमारा विज्ञान — आगे अब क्या करें?'

एक सवाल से शुरू करते हैं — यहाँ तो स्कूल के बहुत सारे बच्चे भी आए हुए हैं। अच्छा, एक बात बताओ कि जब अपनी आवाज़ को पहली बार टेपरिकॉर्डर में भरा और उसे सुना तो क्या वो आवाज़ अपनी लगी? नहीं न! क्यों?

लेकिन जब इसी टेपरिकॉर्डर हुई आवाज़ को किसी दोस्त को सुनाया तो उसको लगा कि यह तो आप ही की आवाज़ थी। ऐसा क्यों?

## कौन-सा सवाल स्कूल का और कौन-सा नहीं

कभी इस प्रश्न के बारे में किसी शिक्षक से पूछा कि ऐसा क्यों होता है?

मैं शिक्षकों से भी पूछना चाहता हूँ कि क्या आपके मन में यह सवाल कभी उठा था? कभी आपने इस प्रश्न को स्कूल में उठाया है? मुझे मालूम है कि जवाब 'न' में है क्योंकि मैंने शिक्षकों से पहले से पूछ रखा है।

इस घटना से सवाल पैदा होता है हमारी शिक्षा के बारे में — कि अपनी आवाज़ वाला प्रश्न बहुत से बच्चों ने अनुभव किया है — लेकिन ऐसा कैसे हुआ कि उनको शुरू से ही पता चल गया कि यह स्कूल में उठाया जाने वाला प्रश्न नहीं है। और शिक्षक को भी पता चल जाता है कि यह स्कूल का प्रश्न नहीं है।

ऐसा क्यों हुआ हमारे देश में कि बहुत सारे सवाल जो जिंदगी से ताल्लुक रखते हैं, कुछ खोजने को प्रेरित करते हैं, मन में तो पैदा होते हैं, लेकिन हम यह समझते हैं कि ये स्कूल के प्रश्न नहीं हैं; हम यह मान लेते हैं कि इस्तहान में तो आएगा नहीं इसलिए इसे समझने की आवश्यकता नहीं। तो ये स्कूल की गलती है या फिर सचमुच ऐसे सवालों का जवाब जानने की ज़रूरत ही नहीं है?

यह चीज़ मुझे बहुत तंग करती है कि — ऐसा क्यों हुआ और इसको कैसे बदला जा सकता है। काफी गहराई तक यह बात हमारी शिक्षा और विज्ञान में फैली हुई है। इसी कारण से यह भी हुआ है कि अंधविश्वासों से जुड़े बहुत सारे प्रश्न भी उन सवालों में शामिल कर लिए जाते हैं जो स्कूल के प्रश्न नहीं हैं, जिनके उत्तर जानने की आवश्यकता नहीं है।

खैर टेपरिकॉर्डर वाले सवाल पर फिर से चलते हैं। *ज़रा कान बंद करके अपना नाम बोलो, ज़ोर से?*

सुनी अपनी आवाज़, कैसी लगी? थोड़ी अजब लगी न। तो कान बंद करके भी आवाज़ सुनाई देती है लेकिन थोड़ी अजब लगती है।

कहाँ से आती है ये आवाज़? हमारे अंदर होने वाले कंपन से आवाज़ पैदा होती है — वो हड्डियों से, रेशों से, मांसपेशियों से निकलकर उस जगह पहुंचती है जहां आवाज़ को महसूस करने वाला 'आला' अंदर है। जब हम बोलते हैं तो इस आवाज़ को अंदर से भी सुनते हैं और मुंह से बाहर निकलने के बाद हवा से होकर जो कानों तक पहुंचती है उस आवाज़ को भी सुनते हैं — यानी हम अपनी जिस आवाज़ को सुनते हैं वह इन अंदर

बाहर वाली आवाजों का मिश्रण होती है। लेकिन बेचारा टेपरिकॉर्डर तो केवल वही सुनता है जो बाहर से आती है। दूसरे लोग भी बाहर वाली आवाज को ही सुनते हैं। इसीलिए दूसरे लोगों को लगता है कि टेपरिकॉर्डर सच कह रहा है और आपको लगता है कि नहीं, ठीक नहीं कह रहा है।

अब सवाल वही है कि ये प्रश्न स्कूल में क्यों नहीं पूछा गया? किससे पूछा जाए? अब यह भौतिकी के शिक्षक से पूछा जाए या शरीर विज्ञान (Physiology) के शिक्षक से पूछा जाए। जो भौतिकी पढ़ाता है वह शरीर विज्ञान नहीं जानता और जो शरीर विज्ञान पढ़ाता है वह भौतिकी नहीं जानता; और दोनों लोग आपस में कभी बात नहीं करते। परन्तु जिंदगी के जितने प्रश्न हैं, जिंदगी में जिन-जिन चीजों का ताल्लुक है वह किसी एक विषय या क्षेत्र में तो मिलते नहीं। अक्सर इनमें बहुत सारे विषयों की आवश्यकता होती है।

तो हमने अपनी समझ को अपनी पढ़ाई को विषयों के दायरे में इस प्रकार से बांध कर रख दिया है कि स्कूल के लिए ऐसा कोई भी प्रश्न जिसमें एक से अधिक डिप्लिनि की जरूरत पड़ती है — वैध प्रश्न नहीं है, वह इम्तहान में नहीं आएगा। उस पर काम करने की, सोचने की, कोई आवश्यकता नहीं है। और इसी वजह से जब हम समाज में जाते हैं, जब समस्याएं सामने आती हैं — हम कुछ नहीं कर पाते। क्योंकि समस्याओं को तो हर विषय की जरूरत होती है और हम कहते हैं — हमारा विषय नहीं, हमारा विषय नहीं, हमारा विषय नहीं... इसीलिए हम कुछ भी कर नहीं पाते।

### जितने विषय उतरी दीवारें

मैं बहुत बार सोचता हूँ कि हमारे देश में सी. टी. स्कैन\* (C. T. Scan) की मशीन ईजाद क्यों नहीं हो सकी? आमतौर पर लोग कहते हैं कि अरे यार भारत की क्या क्षमता है जो सी. टी. स्कैन ईजाद कर सके, यह तो बड़े-बड़े देशों में होता है। चलिए ज़रा देखते हैं कि सी. टी. स्कैन में क्या है? आपको एक्स-किरणों के बारे में मालूम होना चाहिए, आपके पास एक्स-किरणें पैदा करने और उन्हें पहचान सकने वाले उपकरण होने चाहिए, इलेक्ट्रॉनिक्स आना चाहिए, मैकेनिकल इंजीनियरिंग अच्छी होनी

\* शरीर की जांच करने के लिए काम में लाया जाने वाला एक उपकरण।

चाहिए ताकि चीजें घुमा फिरा कर देख सकें। लेकिन साथ-ही-साथ सबसे जरूरी है कि इलेक्ट्रॉनिक्स जानने वाले, भौतिकी जानने वाले और एक्स-किरणों पर काम करने वालों आदि के बीच संवाद होना चाहिए। उन्होंने आपस में कभी साथ बैठकर चाय तो पी हो; और हमारी पढ़ाई में यह नहीं होता। शरीर विज्ञानी को यह पता नहीं होता कि उसके ज्ञान का क्या उपयोग हो सकता है और इसी तरह दूसरे विषय को जानने वाले को यह नहीं मालूम कि वो जो प्रयोगशाला में कर रहा है उसका उसके विषय के बाहर भी कोई इस्तेमाल हो सकता है? उनको मालूम ही नहीं कि साथ बैठकर काम करना कितना फायदेमंद हो सकता है। बल्कि ऐसा लगता है मानों साथ मिल कर काम करने की हमारे यहां मनाही है। हमने संस्थान ही अलग-अलग बना दिए हैं जहां पर विशेषज्ञता अलग-अलग रहती है।

जब भी हमें किसी चीज़ की जरूरत पड़ी है या फिर लगा है कि हम फलों चीज़ में पिछड़े हुए हैं और कुछ खास कर लें — हमने विशेष संस्थान खड़े कर दिए। हरेक चीज़ को अलग-अलग कर दिया। और इससे हुआ यह कि अलग-अलग क्षेत्रों में जो बढ़िया चीज़ें हैं वे कभी एक जगह नहीं रहतीं। और अगर हों भी तो हमारे विभागों के बीच संवादहीनता ऐसी है कि लगता है कि बीच में लोहे की दीवारें खड़ी हों। वे आपस में बात ही नहीं करते।

कहते हैं कि मैं भौतिकी का विशेषज्ञ हूं, मैं रसायन का विशेषज्ञ हूं या मैं फलों चीज़ का विशेषज्ञ हूं. . . जब तक इकट्ठे नहीं होंगे तो ज़िदगी नहीं चलेगी। और सामाजिक विज्ञान को भी साथ में लेना चाहिए ताकि यह मालूम पड़े कि क्या बनाना है, किसके लिए बनाना है। लेकिन इनको भी शामिल नहीं होने देते।

. . . हमारे देश में तो यह बहुत हुआ है कि किसी को डर लगा कि भई संस्कृत की पढ़ाई अच्छी नहीं हो रही, संस्कृत को बढ़ावा देना चाहिए। मैं भी मानता हूं संस्कृत को बढ़ावा देना चाहिए। परंतु संस्कृत को बढ़ावा देने के लिए करते यह हैं कि संस्कृत यूनिवर्सिटी खोल दो। एक संस्कृत यूनिवर्सिटी, दो संस्कृत यूनिवर्सिटी, तीन, चार, पांच. . . और खोलने से होता यह है कि जो कुछ अच्छी संस्कृत जानने वाले हैं उन्हें यूनिवर्सिटी में रख देते हैं। वो भी इस कदर कि बाहर की कोई भी बात उन्हें प्रभावित न कर पाए। विश्वविद्यालय को तो ज्ञान का विश्व (universe of knowledge) होना चाहिए। लेकिन ऐसा नहीं होता।

कैसे बना हमारा यह सोचने का ढंग कि लोगों को एक दूसरे से इतना कट के पढ़ना-सीखना चाहिए। क्या ज्ञान केवल अपने लिए है, कुछ काम करने के लिए नहीं?

### क्या विज्ञान और क्या नहीं

टेलीविजन प्रोग्राम टर्निंग पॉइंट के लिए बच्चों के बहुत सारे प्रश्न आया करते थे। मैंने महसूस किया कि शुक्र है कि कम-से-कम हमारे बच्चों का दिमाग अलग-अलग डिसिप्लिन में बंटा नहीं होता। वे दुनिया को देखते हैं, समझने की कोशिश करते हैं और सवाल खड़े करते हैं। महत्वपूर्ण सवाल खोजते हैं।

मैंने एक बार यूनिवर्सिटी वालों से कहा कि थोड़ी मदद कीजिए, अपने कुछ विद्यार्थियों को इन सवालों को छांटने और जवाब ढूँढ़ने के लिए लगाइए। उन लोगों ने कई सवालों के बारे में तो कह दिया कि ये विज्ञान के प्रश्न ही नहीं हैं।

चलिए एक छोटा-सा प्रश्न बताता हूँ एक बच्चे का, वह कहता है — “एक दिन मैं खड़ा था पेड़ों के बीच, दूसरी तरफ से चंद्रमा दिख रहा था। उसे देखकर मैंने भागना शुरू किया तो मैंने देखा कि चंद्रमा मेरे साथ भाग रहा है, पेड़ों के पीछे-पीछे। मैं रुक गया, चंद्रमा भी खड़ा हो गया — ऐसा क्यों होता है?”

यह तय है कि आप यह प्रश्न किसी शिक्षक को देंगे तो वह कहेगा इसमें विज्ञान कहां है? यह तो विज्ञान का प्रश्न ही नहीं है, इसलिए जवाब देने की कोई आवश्यकता नहीं है, समझने की आवश्यकता नहीं है, यह तो मात्र अनुभूति है।

लेकिन यह बहुत ही सुंदर सवाल है, क्योंकि इसमें जो अनुभूति है उसमें पूर्णता है, और इसमें सुंदरता भी है। बच्चे ने इसे देखा है, वो चांद के साथ खेला है। चांद के साथ खेलना तो बड़ी उम्दा चीज़ है न, विज्ञान से क्यों निकालते हो उसको?

तो क्या कहोगे बच्चों से इस सवाल के जवाब में कि नहीं बेटा ऐसा नहीं होता, बस खतम, यही जवाब है?

... मुझे याद आता है जब मैं छोटा था गाड़ी में सफर किया करते थे। बचपन मेरा क्वेटा (बलूचिस्तान) में गुज़रा है। तो जब चलती गाड़ी की

खिड़की से देखते थे तो ऐसा लगता था कि साथ वाले पेड़ और चट्टान तो बड़े जोर से पीछे जा रहे हैं और बहुत दूर वाले ऐसे लगते थे कि खड़े हों, पीछे हटते ही नहीं। खिड़की से देखो तो लगता था कि मानों ज़मीन घूम रही है।

. . . क्यों है ऐसा? यह सवाल दिशा भेद (Parallex) का है, दूरी को कैसे नापते हैं, क्या चीज़ है *पेरेलेक्स*, . . . थोड़ा बच्चे को घुमाइए, गाड़ी से लेकर जाइए, साइकिल पर घुमाइए, उसको अनुभव इकट्ठा करने दीजिए। बच्चा खुद-ब-खुद उसका मतलब निकाल लेगा। लेकिन उसे छोड़िए मत। यह प्रश्न ज़रूरी है।

एक और प्रश्न में मुझे बड़ा मज़ा आया, जिसका जवाब शायद हमें पूरी तौर पर मालूम नहीं है — अगर कोई मुझे गुदगुदी करता है तो हंसी आती है लेकिन जब मैं खुद को करता हूँ तो हंसी नहीं आती, ऐसा क्यों होता है? यह एक बहुत ही बढ़िया सवाल है और पूछने वाले की उम्र और वह कितना जानता है के हिसाब से इस सवाल को लेकर इतनी सारी खिड़कियां खोली जा सकती हैं, और खूब दूर तलक जाया जा सकता है; और इसके बाद यह भी कहा जा सकता है कि इसके आगे अभी पता नहीं है कि क्या होता है?

जैसे कि थोड़े बड़े बच्चों के ध्यान में यह बात लाई जा सकती है कि जब भी कोई संवेदन होता है — जैसे कि कहीं दर्द या कुछ चुभ गया आदि — तो दरअसल यह संवेदन दिमाग में होता है। उस जगह से दिमाग तक एक संदेश पहुंचता है कि भई यहां कुछ गड़बड़ी है, कुछ करो।

अगर बच्चा थोड़ा अधिक बड़ा है तो उसे संदेश एक जगह से दूसरी जगह जाने के बारे में और बताया जा सकता है — यह संदेश जाना बड़ी बुनियादी चीज़ है। कहते हैं न कि दर्द हो रहा है गोली खा लो। यह गोली चोट लगने वाली जगह पर तो कुछ नहीं करती बल्कि दिमाग में संवेदन को कम करती है।

अगर और बड़ा है बच्चा तो उसे यह भी कहा जा सकता है कि यह जो दर्द, जिसे प्रकृति ने ईजाद किया है, बड़े कमाल की चीज़ है। अगर दर्द का यह संवेदन न होता तो कोई आपकी उंगली काट ले और आपको पता ही न चले। और दुनिया के कुछेक चंद लोगों को यह बीमारी है — वे दर्द महसूस नहीं करते। वे अपनी उंगली चबा जाते हैं और उन्हें पता ही नहीं चलता। तो दर्द जो है, वह दरअसल शरीर पर नियंत्रण रखने वाले तंत्र का एक

महत्वपूर्ण हिस्सा है।

इसका गुदगुदी से क्या ताल्लुक है? दर्द की तो बड़ी लंबी कहानी है। इस कहानी का एक हिस्सा बताना पड़ेगा कि उंगली काट लो तो दर्द होता है, लेकिन हाथ कट जाए तो यह नहीं कि लाख गुना ज़्यादा दर्द होगा। अंदर जो संवेदन वाला है वह कहता है कि हो गया भई, काफी दर्द हो गया, पता चल गया है; वहां भी नियंत्रण है। और दर्द को धीमा करने के लिए दिमाग खुद ओपियस उत्पादित करता है, जो अफीम जैसी चीज़ है। ताकि दर्द का संवेदन कम हो जाए।

दिमाग वापस संकेत भेजता है चोट लगने वाले हिस्से के आस-पास के क्षेत्रों को कि वे अपनी दर्द को महसूस करने की सीमा बढ़ा दें – यह जानने के लिए कि कितने हिस्से में तकलीफ हुई है। यह सब चलता रहता है।

तो यह जो गुदगुदी की बात है कि किसी ने आपको गुदगुदी कर दी, यह घटना अचानक हुई। तो संवेदन हुआ कि कुछ गड़बड़ी हुई है। लेकिन संवेदना इतनी कम थी कि मैं बच्चों को कहूंगा कि दिमाग भी हंसता है कि क्या यार, ऐसा संदेश भेज दिया! हो सकता है कि यह बात को रखने का वैज्ञानिक ढंग नहीं है। लेकिन मजेदार बात यह जानना है कि इस संवेदन को दिमाग द्वारा इस तरह से नहीं देखा गया कि कोई गंभीर कार्यवाही करने की ज़रूरत लगे।

तो आप कहते हैं कि मैं खुद को गुदगुदी करूं तब हंसी क्यों नहीं आती? अब देखिए 'मैंने गुदगुदी कर ली' का अर्थ क्या है? मैंने दिमाग में पहले ही सोच लिया कि किस समय पर, किस जगह पर गुदगुदी करनी है और उसी के हिसाब से नियंत्रित होकर मेरा हाथ उठा; जाकर बिल्कुल उसी स्थान पर लगा। अब वहां से जो संदेश जाएगा, दिमाग ने तो पहले से ही उसके लिए अपनी दुकान बंद कर रखी है। क्योंकि उसे मालूम है कि यहां से कुछ ऐसा आएगा जिसकी फिकर करने की कोई ज़रूरत नहीं है। तो आप संदेश लाने, ले जाने की प्रक्रिया पर आगे बात कर सकते हैं। यानी इस सवाल को लेकर इतनी खिड़कियां खोली जा सकती हैं, इतनी दूर तक जाया जा सकता है। तो फिर ऐसे सवालों को दरकिनार क्यों करना चाहिए।

### रटना, समझना और इन्तहान

चलिए पीछे की ओर, थोड़ा वापस चलते हैं – आज्ञादी की 50वीं वर्षगांठ है। उस समय के मुकाबले हमारे पास कहीं ज़्यादा स्कूल हैं। लेकिन

अभी भी हालत यह है कि देश के लगभग आधे युवा कभी भी स्कूल नहीं गए हैं। हम विकास की बात करते हैं लेकिन यह भूल जाते हैं कि दुनिया में कोई भी ऐसा मुल्क नहीं है जो विकसित हो लेकिन जिसके सब लोग पढ़े लिखे नहीं हों या फिर कोई ऐसा देश हो जिसके सारे लोग पढ़े लिखे हों लेकिन मुल्क विकसित नहीं हुआ हो।

कभी-कभी मुझे लगता है कि जो बच्चे स्कूल छोड़ देते हैं वो ज़्यादा होशियार होते हैं। गांव के बच्चे, इधर-उधर के बच्चे। उनके मां-बाप उनको ठोक-पीट कर या तो भेज नहीं पाते या फिर भेजते नहीं हैं। बच्चे स्कूल छोड़ इसलिए देते हैं कि वे देखते हैं कि उनके आसपास की जो जिंदगी है उसका स्कूल की पढ़ाई में कोई ज़िक्र नहीं है, कोई ताल्लुक नहीं है। स्कूल की पढ़ाई उन्हें इससे बिल्कुल अलग करके रख देती है। स्कूल की पढ़ाई में यह है कि अधिक-से-अधिक चीज़ें डालते जाइए, याद कर लीजिए, रट लीजिए इन्तहान पास करिए, परंतु जिंदगी से कोई सरोकार नहीं होना चाहिए। और वे बच्चे कहते हैं कि हमें याद करना, बिना समझे रटना नहीं है और स्कूल छोड़ देते हैं। हमें मालूम है कि हमारे जो लोग अनपढ़ हैं वे और चीज़ों में बहुत होशियार हैं। अगर ऐसे लोग पढ़ पाते तो बहुत ऊपर तक जा सकते थे, लेकिन हमने यह नहीं होने दिया।

कभी आपने सोचा कि याद करने और रटने पर जो जोर है हमारी पढ़ाई में इसमें भी एक बात छुपी हुई है — कि पढ़ाई याद रखना है, पढ़ाई समझना नहीं है। यहां तक कि बहुत से लोग तो समझना क्या होता है भूल ही गए हैं। उन्हें मालूम ही नहीं कि समझना क्या होता है। इसका मुझे काफी खतरा लगता है कि हो सकता है कि हमारे बहुत सारे पढ़ाने वालों में इस प्रकार के लोग आ गए हैं जिन्होंने ठीक प्रकार से सीखा ही नहीं कि समझना क्या होता है।

मनोविज्ञान और न्यूरो बायोलॉजी से पता चला है कि बचपन में जब हम पढ़ते हैं, सीखते हैं, बड़े होते हैं उस समय एक ऐसा खास दौर आता है जब अगर हमने अपनी क्षमता का इस्तेमाल नहीं किया तो दिमाग उस सर्किट को बंद कर देता है — हमेशा के लिए। अंदर का जो मैनेजर है वो कहता है कि इस पैकेज को हमने डाला था लेकिन यह तो इस्तेमाल ही नहीं होता। इसे बंद कर दो। उसके बाद यह बहुत मुश्किल से खुलता है। (जैसे कि कम्प्यूटर वाले जानते हैं कि अगर कोई प्रोग्राम पड़ा है जिसका कोई काम नहीं है तो आप उसे निकाल देते हैं)।



मुझे कभी-कभी लगता है कि क्या ऐसा संभव है कि पढ़ाने वाले जो बहुत सारे लोग आ गए हैं उनकी यह क्षमता बची ही न हो। ऐसे में वे किस प्रकार बच्चों को यह क्षमता दे पाएंगे। अगर ऐसा हुआ है तो यह बेहद खतरनाक बात है। इसे समझना चाहिए। और इसे जो चीज़ और खराब करती है वो है रटना। सभी इस तरफ जा रहे हैं। प्रतिस्पर्धा करते हैं तो वह भी रट के।

आजकल तो सिर्फ नंबर लाना ही पढ़ाने का मकसद हो गया है। शिक्षा के संस्थान सिर्फ परीक्षा लेने के केंद्र बन गए हैं, न कि शिक्षा देने के। कितनी सूचनाएं हैं, क्रिकेट में क्या हुआ, किस साल क्या हुआ, कितने नाम याद हैं. . . आदि-आदि। यह सब क्या है, क्या इसलिए है यह दिमाग? इन छोटी-मोटी चीज़ों के लिए दिमाग को क्यों बरबाद किया जा रहा है। इंसान बना है विश्लेषण के लिए, समझने के लिए, नए संबंध बनाने के लिए!

आपको याद होगा कि कुछ दिनों पहले एक कमेटी गठित हुई थी – बस्ते के बोझ के बारे में। इसकी रिपोर्ट हमने हाल ही में जमा की है। हमने पाया कि चीज़ों को न समझ पाने की दिक्कत, बस्ते के वास्तविक बोझ की तुलना में कहीं ज़्यादा बड़ी समस्या है। इस पर ध्यान देने की बहुत आवश्यकता है।

## समाज और शिक्षा का सवाल

आप जब भी पढ़ाने जाएं तो यह देखिए कि स्कूल और समाज का आपसी रिश्ता बना रहे, स्कूल और पर्यावरण का रिश्ता बना रहे। तब समाज के प्रश्न स्कूल में आएंगे, उनका उत्तर मिलेगा। तब लोग सृजनात्मक होंगे, विद्यार्थियों में से कवि निकलेंगे, लेखक निकलेंगे। अगर पढ़ाई का ज़िंदगी के साथ ताल्लुक नहीं है, तो आप पढ़ तो लेंगे लेकिन आविष्कारक बनना कठिन है। आविष्कारक वे बनते हैं, जो उंगलियों से भी सीखते हैं और दिमाग से भी सीखते हैं। और जो दोनों को मिलाकर काम करते हैं वे बड़े वैज्ञानिक बनते हैं।

लेकिन हमारे समाज ने एक ऐसी खाई खड़ी कर दी कि जो हाथ से काम करेंगे वे पढ़ाई से वंचित रहेंगे और जो पढ़ेंगे वे हाथ से काम नहीं करेंगे। या तो उन्हें इजाज़त नहीं है या फिर वे बुरा मान जाते हैं। चाहे यह जाति प्रथा से उपजा हो या फिर कहीं और से आया हो – लेकिन यह प्रचलन काफी बढ़ गया है। इसे और बढ़ाया गया मैकॉले की नीति से। अगर थोड़ा

लिखना आ गया और थोड़ी अंग्रेज़ी आ गई तो ठीक है, वही तो चाहिए क्लर्क के लिए — किसी तरह की योग्यता नहीं। लेकिन कुछ लोग बच जाते हैं इस सिस्टम से। क्योंकि चाहे कितनी भी कोशिश करो सिस्टम सबको मार नहीं सकता। ऐसे लोग सिस्टम से निकलकर, उभरकर उड़ते हैं — और हमारा सौभाग्य है कि हमारे देश में ऐसे बहुत सारे लोग हैं, जो इस तरह से उड़े हैं, उड़ रहे हैं। उड़ते हैं और बच जाते हैं और उम्दा भी बन जाते हैं।

... यह सब नई बातें हैं, ऐसा नहीं है। लेकिन शिक्षा की स्थिति तो गड़बड़ है। नई-नई शिक्षा नीतियां आती रहती हैं, चलती रहती हैं। मैंने देखा है कि शिक्षा को आप जितना ठीक करने की कोशिश करते हो वो उतना ही बिगड़ती जाती है। क्यों?

शायद जब ठीक करने लगते हैं तो समझते हैं कि इसलिए खराब है कि शिक्षक पढ़ाते नहीं, स्कूल नहीं आते, या फिर ऐसा या वैसा... और हम संसाधन बढ़ाने की कोशिश करते हैं। व्यवस्थाएं ठीक करने में लग जाते हैं।

और मैंनेजर जो होते हैं उनकी ट्रेनिंग ही ऐसी होती है कि सारा का सारा सिस्टम एक-सा होना चाहिए। एक जैसे ही इम्तहान हों, एक जैसी ही पुस्तकें हों — लेकिन अगर मैं अतिवादी हो जाऊं तो मेरा मानना है कि पाठ्यक्रम हरेक मनुष्य के लिए अलग-अलग होने चाहिए।

लेकिन अगर इतना ही मान लें कि पाठ्यक्रम का कम-से-कम उसके वातावरण से कुछ जुड़ाव होना चाहिए तो कैसे हो सकता है केरल के तट पर भी और हिमालय के पहाड़ों पर भी एक जैसे सवाल उठें — अलग-अलग प्रश्न उठेंगे; और इन अलग-अलग सवालों से मिलकर जो सवाल बनेंगे तो आप उम्दा से उम्दा भौतिकी भी सीख लेंगे, जीवविज्ञान, रसायन आदि भी।

लेकिन आप केंद्रीकरण करेंगे, एक-सा बनाएंगे तो इम्तहान तो अच्छे हो जाएंगे, रौब डालेंगे कि देखो इतने कठिन पर्चे कर आते हैं हमारे बच्चे। परन्तु इन सबमें जान नहीं होगी, आत्मा नहीं होगी। उसमें विकेंद्रीकरण की आवश्यकता है। लेकिन लोग कहेंगे कि नहीं इससे तो बर्बादी हो जाएगी, कुछ अच्छा नहीं होने वाला, सब खराब हो जाएगा। लेकिन मैं जोर देता हूं कि खराब नहीं होगा और इसका उदाहरण भी है।

बहुत पहले से एक शिक्षण पद्धति हमारे देश में चली आ रही है, एक बड़ी भारी शिक्षण पद्धति। लेकिन हमारी नज़र उसकी ओर नहीं जाती। किसान लोग कहां से सीखते हैं — अब यह मत कहिएगा कि किसानी करने

में शिक्षा की क्या आवश्यकता है। बीज चुनना हो, पानी देना है, कब लगाना है, कब काटना है — बेचना है। हजारों चीजें इससे लगी हुई हैं, इसे स्कूल कॉलेज का पढ़ा हुआ कोई बच्चा नहीं कर सकता। इसमें जो शिक्षा है वो मां-बाप से सीखता है, देखकर सीखता है, कर के सीखता है, रिस्क लेकर सीखता है; और ऐसे तो करोड़ों लोग हैं इस देश में जो हमको खाना खिलाते जा रहे हैं, और पैदावार लगातार बढ़ती भी जा रही है। देश उन पर बहुत गहरे तौर पर निर्भर है। स्कूल कॉलेज से पढ़कर बहुत कम लोग किसानी करने आते हैं। इनमें से जिन किसानों के बच्चे स्कूल जाते हैं उनको इस तरह पढ़ाया जाता है कि वे गांव से टूट जाते हैं उनका इस काम से कोई ताल्लुक नहीं रहता। क्योंकि इस काम को छोटा-तुच्छ माना जाता है। जो चीज़ हम कर नहीं सकते उसको तुच्छ मानते हैं।

आपकी मोटरसाइकिल, कार आदि खराब हो जाती है। उसको ठीक करने वाले मैकेनिक कहां से ज़मीन से निकलकर जगह-जगह पर आ जाते हैं? एक से मैंने पूछा, “कहां से मोटर बनाना सीखा?”

कहा, “उस्ताद से सीखा।” उस्ताद कहां से आते हैं? थोड़े से आते होंगे इंजीनियरिंग कॉलेजों से, लेकिन बहुत से नहीं आते। इन उस्तादों की बच्चों को पढ़ाने की विधि क्या होती है? वो उन्हें प्यार करता है, पीटता ठोकता है, समझाता है। इन उस्तादों से जब पूछा जाता है कि आप इन मैकेनिक्स को किस विधि से पढ़ाते हैं तो जवाब मिलेगा,

“जी इन्हें सीखना पड़ता है।” लेकिन वे यह भी कहते हैं कि उन्हें हमारे कॉलेजों की पढ़ाई समझ नहीं आती। पूछो, “क्यों?”

( कहते हैं ) क्योंकि आपके 80 फीसदी भी पास, 90 फीसदी भी पास, 40 फीसदी भी पास...। हमारा तो यह है कि बच्चा आता है सीखने — सीखता है, जब गाड़ी चल जाती है तो पास, नहीं चलती है तो कहते हैं कि बेटा, एक दो महीने और ठहरो, उसके बाद पास। कोई फेल नहीं होगा।

और मैं आपको बताऊं कि जो गाड़ियां भारत में ठीक हो जाती हैं वे विश्व के किसी भी कोने में ठीक नहीं हो सकतीं।

लोग उम्दा-उम्दा जेवर पहनते हैं। हम लोग करोड़ों रुपए खर्च करके जेवर बनवाते हैं। सुनार जेवर बनाना सीख कर कहां से आता है?

तो जो मेहनत करने वाले लोग हैं — जो समझते हैं, करते हैं, उनकी कीमत नहीं है, उस पढ़ाई की कीमत नहीं है — उस सीख की कीमत नहीं है।

ये सारे लोग कहां से पढ़कर आ जाते हैं? ज़मीन से उगते हैं क्या ये लोग? आखिर हम क्यों नहीं पहचान पाते शिक्षा के इस तंत्र को। आप गिनते जाइए चीज़ों को जिन पर हमारी ज़िदगी निर्भर रहती है, वे सब ऐसे लोगों से आती हैं।

### दो सिस्टम का मेल क्यों नहीं

वो क्या वजह थी जिसके कारण जो नया सिस्टम हमने बनाया, उसमें इस सिस्टम को, इतना अलग-थलग कर दिया कि इस सिस्टम वाले की फॉर्मल सिस्टम में जगह नहीं है, उसके आने का कोई रास्ता ही नहीं है। एक आदिवासी का दस-बारह साल का बच्चा दो-सौ किस्म की वनस्पतियों के नाम और उनके उपयोग भी जानता है। लेकिन अगर आपकी बी. एस. सी. की परीक्षा में यह प्रश्न पूछ लें कि दौ-सौ पौधों के नाम बताओ तो सब फेल हो जाएंगे। लेकिन आपके इस सिस्टम में उस आदिवासी बच्चे को तो स्कूल में एडमिशन भी नहीं मिलेगा। क्योंकि वो बा-बा-ब्लैकशीप नहीं बोल पाएगा। दरअसल हमने अपने फॉर्मल सिस्टम में अंदर आने के तरीके ऐसे बना दिए कि या तो ऐसे लोग, जिनकी मैं बात कर रहा हूँ, अंदर नहीं आ पाते। और आ भी पाएं तो उन्हें लगता है कि वे किसी काम के नहीं हैं। अरे भई, वे ही अधिक काम के हैं।

तो क्या बिल्कुल असंभव है इस प्रकार का सिस्टम बनाना कि ये जो लोग हाथ से काम करते हैं, ज़िंदगी को देखते हैं, नये किस्म की सुंदरता लाते हैं, जिनमें सृजनात्मकता है — ये लोग पढ़ें, क्वांटम मैकेनिक्स भी पढ़ें, जीवविज्ञान भी पढ़ें और फिर देखिए कि किस प्रकार से ये देश उभरता है।

आखिर हमने इन दो पद्धतियों (Systems) को अलग-अलग क्यों कर दिया है? जब भी शिक्षा को सुधारने के लिए कोई नई संस्था बनाते हैं तो नए प्रतिबंध आ जाते हैं और इस प्रकार के बचे खुचे लोग और भी निकाल दिए जाते हैं। शिक्षा संस्थानों से मैं कहता हूँ कि अधिक तो नहीं कर सकते कम-से-कम उनको इतनी इज़्जत तो दे सकते हो कि उनको बुलाओ, लोग उनसे सीखें, उनके साथ काम करें।

### नवाचार गांवों में

आप जा के देखिए गांवों में। कितनी नवाचार करते हैं ये लोग। लेकिन हम उनकी चीज़ों को उठाते नहीं हैं। क्योंकि ऐसी किसी चीज़ को हमने

विदेश में नहीं देखा है। और हमारे समाज में तो वो ही चीज़ें आएंगी जो विदेश से आई हों, और वहां-से नहीं है तो असली नहीं, ठीक नहीं है। मानों भगवान ने कह रखा हो कि नई ईजाद तो बाहर के मुल्क में होनी चाहिए।

बहुत सारे नवाचार होते हैं जो पनपते नहीं हैं। क्योंकि उद्योग तंत्र उन्हें अपनाता नहीं है। और कोई शिक्षा संस्थान इस पर अध्ययन करने के लिए आगे नहीं आता।

आप में से कितने लोगों ने 'मरूता' का नाम सुना है या 'जुगाड़' का? कुछ साल हुए पंजाब के एक किसान ने सोचा कि मेरे पास जो डीजल का पंप है वो दिन में दो तीन घंटे इस्तेमाल में आता है और बाकी समय यूँ ही पड़ा रहता है। वो बड़ा बढ़िया काम करता है और गोल-गोल घूमता है। मैं क्या मेरा बेटा भी उसकी मरम्मत कर लेता है। तो अगर गोल-गोल घूमने वाली चीज़ है मेरे पास, तो इसका इस्तेमाल गाड़ी बनाने में कर सकता हूँ। और उसने गाड़ी बनाई — लकड़ी से उसकी बॉडी बनाई, नीचे स्प्रिंग लगाए, पुरानी जीप के पहिए कहीं से मिल गए वो लगाए, रेडिएटर लगाया और बन गई गाड़ी; जो 40-50 किलोमीटर की रफ्तार से चल सकती थी, लोग भी उसमें आ जा सकते थे और सामान भी ढोया जा सकता था। और ऐसी गाड़ी बनाने में खर्चा हुआ वस तीस-चालीस हजार रुपए।

लोगों ने उससे पूछा कि भई तुम्हारी गाड़ी का क्या नाम है। उस बंदे का स्वभाव थोड़ा मज़ाकिया भी था। उसने कहा 'गड्डी दा नां — मरूता है मरूता'; ( मारुति नाम्ना पुरुषीकरण )। उसकी गाड़ी को किसी और किसान ने देखा, उसने भी कोशिश करी और बना ली। जब उससे पूछा गया कि यह क्या है तो उसके कहा 'जुगाड़ है — जुगाड़'। पूरा पंजाब इनसे भर गया। इसमें लोगों को भी इधर से उधर लाने, ले जाने का काम शुरू कर दिया।

पंजाब से हरियाणा के लोगों ने सीखा और धीरे-धीरे हरियाणा भी भर गया। अभी पिछले साल जब मैं राजस्थान के एक इलाके में गया तो वहां भी दिख गई। लोगों को गर्व था कि उन्होंने खुद इसे बनाया है। उन्होंने बताया कि अब तो यह सस्ती बनने लगी है — बीस हजार में ही बन जाती है। क्योंकि यहां सेना की पुरानी गाड़ियों का सामान काफी सस्ते में मिल जाता है। यह गाड़ी काफी तेज़ी से फैली है। लेकिन सवाल है कि मैंने अभी तक समाज विज्ञान में इसके प्रसार को लेकर किसी विद्वान द्वारा लिखा गया

कोई लेख नहीं देखा। मैंने कई संस्थानों और विश्वविद्यालयों के लोगों से कहा कि तकनीकी संस्थानों के विद्यार्थियों को एक प्रोजेक्ट लेना चाहिए कि वे 'जुगाड़' बना सकें। अगर आप जुगाड़ जैसी चीज़ बनाने लगेंगे तो इतनी मेकेनिकल इंजीनियरिंग सीखेंगे, बल आघूर्ण (Torque) के बारे में सीखेंगे, पता नहीं क्या-क्या सीख जाएं . . .। यह भी हो सकता है कि कोई यह सोचने लगे, इसके रेडिएटर कैसे डिज़ाइन होने चाहिए, इंजन थोड़ा ऐसा होना चाहिए, और हो सकता है कोई छोटा-मोटा उद्योग लग जाए इसके कलपुर्जे सप्लाई करने का।

यह तो एक सवाल है। उतना ही महत्वपूर्ण दूसरा प्रश्न है कि एक नवाचार कैसे फैलता है। अब जुगाड़ का तो कोई विज्ञापन नहीं हुआ कि जुगाड़ बन गया है, इसे ले लो। मुझे ऐसा लगता है कि भारत देश में किसी अच्छे विचार को फैलाने के लिए रेडियो या टेलिविज़न की ज़रूरत नहीं होती। वो तो अपने आप ऐसे फैलती हैं जैसे कि कोई बीमारी। इसी तरह से गांधी के विचार फैले, बुद्ध के फैले और यही हमारे समाज की शक्ति है। पर कोई उद्योग इस नवाचार पर काम करने के लिए तैयार नहीं है, न ही कोई संस्थान इस पर अध्ययन करने के लिए राजी है। ऐसी कई नवाचार आपको मिलेंगी।

मेरे कहने का मतलब था कि ऐसा नहीं है कि समाज में और उदाहरण नहीं हैं पढ़ाई के और तरीकों के बारे में। समाज ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है। कुछ तो मैंने आपको बताए, और कुछ आप भी सोच सकते हैं। हमारा समाज चलता ही इससे है। तो फॉर्मल सिस्टम में हमने इस तरीके को छोड़कर बिल्कुल अलग कर दिया, उससे बिल्कुल रिश्ता ही तोड़ दिया। आगे हम कोई तरीका निकाल सकें कि अपने फॉर्मल सिस्टम में इस सिस्टम को इस प्रकार से जोड़ें कि पता ही न चले कि इंसान कहां से घुसा और कहां चला गया।

एडमिशन में लचीलापन लाया जा सकता है और अगर डिग्री सिर्फ योग्यता की हो तो इससे तो समाज में क्रांति आ सकती है। और मैं समझता हूं कि इस देश में यह हो सकता है, क्योंकि यह देश तो ज़िंदा ही ऐसे लोगों से है। इसके आधार में एक सीखने वाला एक बेहतरीन समाज है।

---

प्रोफेसर यशपाल: वरिष्ठ अंतरिक्ष वैज्ञानिक और विज्ञान को लोकप्रिय बनाने में सक्रिय। स्कूली शिक्षा में 'बस्ते के बोझ' को कम करने के लिए सरकार को सुझाव देने के वास्ते बनी 'यशपाल समिति' के अध्यक्ष थे। पूर्व में वे कई संस्थाओं से संबद्ध रहे: टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च, बंबई में वैज्ञानिक थे। इंडियन स्पेस रिसर्च ऑर्गेनाइज़ेशन के 'स्पेस एप्लीकेशन प्रोग्राम' के निदेशक; विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के चैयरमैन, भारतीय विज्ञान कांग्रेस के अध्यक्ष रह चुके हैं।